४

अन्तर्यात्रा

आन्तरिक जीवन की शुद्धता, जीवन की समुचित तैयारी के लिए, परम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड और गंभीर विद्वत्ता व्यर्थ है। जैसे, एक आदि मूल संख्या के अभाव में हजारों शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार अन्तःशुद्धि के बिना बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं। जो क्रियाकाण्ड केवल शरीर से किया जाता है, अन्तरतम के भाव से नहीं किया जाता, उससे आत्मा पवित्र कदापि नहीं बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्म-स्पर्शी आचार की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है।

अंतःशुद्धि के निमित्त बाह्याचार :

जो बाह्य आचार अन्तःशुद्धि के फलस्वरूप स्वतःसमुद्भूत होता है, वस्तुतः मूल्य उसी का है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले बाह्य आडम्बरों से उद्देश्य की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। हम सैकड़ों को देखते हैं, जो बाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते हैं और करते-करते बूढ़े हो जाते हैं, किन्तु उनके जीवन में कोई शुभ परिवर्तन नहीं हो पाता, वह ज्यों-का-त्यों कलुषित ही बना रह जाता है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यांत्रिक है, उसमें आन्तरिकता का कतई समावेश नहीं है।

अंतःशुद्धिपूर्वक बाह्य आचार : कल्याण-पद का आधार :

यह तो नहीं कहा जा सकता कि बाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दंभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारकों की ऐसी धारणा बन गई है कि जो दंभी और पाखण्डी है, वह अपने दंभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का अधिक आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बहुत बड़ा धर्मात्मा है! ठीक है, उनकी यह धारणा एकदम निराधार भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्भाग्य से अनेक लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से कलुषित करते हैं और उन्हें देख-देख कर बहुत से लोग उस अनुष्ठान से घृणा भी करने लग जाते हैं। फिर भी समाज में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते हैं, भले ही उनके क्रियाकाण्ड में आन्तरिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव ही उनका कल्याण कर देता है। और, कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक ही बाह्य क्रियाएँ करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही वस्तुतः अभिनन्दनीय हैं। वे निस्सन्देह परम कल्याण पद के भागी होते हैं।

अंतःशुद्धि की प्रक्रिया :

अन्तःशुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार सामान्यजनों के सामने प्रस्तुत किए जाते हैं। उनकी भाषा में भेद हो सकता है, भाव में नहीं। मैं समझता हूँ, अन्तःशुद्धि के लिए साधक को सबसे पहले अपने अन्तरंग को टटोलना चाहिए।

आप आन्तरिक जगत् की ओर दृष्टिपात करेंगे, तो देखेंगे कि वहाँ राक्षस भी अपना अड्डा जमाये हुए हैं और देवता भी। राक्षसी भाव दुनिया की ओर घसीटते हैं, बुराइयों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओर ले जाते हैं, और मनुष्य की जिंदगी को नरक में डाल देते हैं। दूसरी ओर, आत्मा में, जो दैवी संस्कार हैं, वही भीतर के देवता हैं। वे हमारी जिंदगी को अच्छाइयों की ओर ले जाते हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करते हैं।

देवासुर का अनन्त संघर्ष :

अन्दर के राक्षस और देवता परस्पर संघर्ष किया करते हैं, उनमें निरन्तर महाभारत छिड़ा रहता है। महाभारत तो एक बार हुआ था और कुछ काल तक रह कर खत्म भी हो गया, किन्तु हमारे अन्दर का महाभारत अनादिकाल से चल रहा है। उसकी कहीं आदि नहीं है और अन्त कब, और कैसे होगा, नहीं कहा जा सकता। इस महाभारत में भी कौरव और पाण्डव लड़ रहे हैं। हमारे अन्दर की बुराइयाँ कौरव हैं और अच्छाइयाँ पाण्डव हैं। इन दोनों के युद्ध का स्थल—कुरुक्षेत्र, हमारा स्वयं का हृदय है।

कौरव-पाँडव और विजय केन्द्र :

अब तक मानव-जीवन का इतिहास ऐसा रहा है कि हजार बार कौरव जीते, परन्तु अन्त में पाण्डवों की ही विजय हुई। पाण्डव जुआ खेलने में भी हारे और प्रारम्भिक युद्ध में भी हारे, किन्तु आखिरी युद्ध में वही जीते। और इधर अनन्तकाल से जो लड़ाई लड़ी जा रही है, उसमें क्रोध ने शान्ति पर विजय प्राप्त की, लोभ ने सन्तोष का गला घोंट दिया। अहंकार ने नम्रता को निष्प्राण कर दिया। स्पष्ट है, विकृतियाँ ही कौरव हैं, और वे अच्छाइयों को पराजित करते रहे हैं।

कौरव-पाण्डवों की अन्तिम लड़ाई कृष्ण के निर्देशन में लड़ी गई। कृष्ण पथ-प्रदर्शक बने और अर्जुन योद्धा बने। इस लड़ाई के सम्बन्ध में व्यास को यहाँ तक कहना पड़ा—

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेंगे, अर्जुन अपना धनुष उठाकर लड़ेंगे, वहाँ विजय के अतिरिक्त, और क्या हो सकता है? वहाँ विजय है, अभ्युदय है और जीवन की ऊँचाई है। यह मेरा निश्चित मत है।"[१]

हमारा हृदयस्थल : अर्जुन और कृष्ण का समन्वय :

वास्तव में यह मत गलत नहीं है कि महाभारत में जैसे कृष्ण और अर्जुन थे, वैसे ही हमारे हृदय में भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्म-योग के प्रतीक। कर्मयोग अकेला सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो अंधे की तरह टकराएगा। उसको नेतृत्व मिलना चाहिए, एक समर्थ पथप्रदर्शक चाहिए। वह पथप्रदर्शक ज्ञान के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? ज्ञान जब कर्म का पथप्रदर्शन करता है, तो दोनों का समन्वय हो जाता है। यही कृष्ण और अर्जुन का समन्वय है। इस समन्वय के साथ जब जीवन का महाभारत लड़ा जाता है, तो उसमें विजय होना ध्रुव है, और वासना-रूपी कौरवों का पतन निश्चित है।

क्रोध और मान :

हमारे भीतर बहुत बड़ी-बड़ी बुराइयाँ घुसी हुई हैं, उनमें क्रोध और मान की गिनती पहले होती है। भगवान् महावीर ने भी कषायों में क्रोध और मान का नाम पहले लिया है। चार कषाय, जो जन्म-मरण का नाटक रचते रहते हैं और जन्म-जन्मान्तर से दुःख देते आ रहे हैं, इनमें क्रोध पहला और मान दूसरा है।

---

१. यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥—श्रीमद् भगवद् गीता, १८।८७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकप्रियता क आधार : प्रेम :

यह तो आप जानते हैं कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेमपूर्वक चलना है। मनुष्य संसार में जहाँ कहीं भी रहना चाहता है, अकेला नहीं रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुड़ता है। परिवार में दस-बीस आदमी रह रहे हैं, तो प्रेम के कारण ही मिलकर रह सकते हैं। घृणा का काम तो जोड़ना नहीं, तोड़ना है, अलग करना है! इसी तरह समाज में हजारों आदमी जुड़े रहते हैं। उन्हें जोड़ने वाला एकमात्र प्रेम ही है। तो परिवार में पारिवारिक प्रेम, समाज में सामाजिक प्रेम और राष्ट्र में राष्ट्रिय प्रेम ही आपस में मनुष्य जाति को जोड़े हुए है। जिसके हृदय में प्रेम का वास है, वह अपने हजारों और लाखों प्रेमी बनाता चलता है।

प्रेम और क्रोध : परस्पर विरोधी :

मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नहीं हो सकता। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ क्रोध होगा, वहाँ प्रेम नहीं हो सकता और जहाँ प्रेम है, वहाँ क्रोध का अस्तित्व नहीं। ईश्वर की भी शक्ति नहीं कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एकत्र नहीं रह सकते। राम और रावण दोनों एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। एक बैठेगा, तो दूसरे को हटना पड़ेगा। राम की पूजा करनी है, तो रावण को सिंहासन से उतारना ही पड़ेगा और यदि रावण को पूजना है, तो राम को उतारना पड़ेगा।

मन का भयानक कालुष्य : क्रोध :

जब इन्सान के मन में मलिनता आती है, तो चमकती हुई ज्ञान की लौ धुँधली पड़ जाती है। और, जब मन में काम और क्रोध की लहर उठती है, तो मन का दर्पण मैला पड़ जाता है। आपको अनुभव ही होगा कि दर्पण में फूँक मार देने पर वह धुँधला हो जाता है। उसमें चेहरा देखने पर साफ नजर नहीं आता। दर्पण अपने स्वरूप में तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह की भाप ने असर किया, तो वह मैला बन गया। इसी प्रकार मन का दर्पण भी साफ है, ठीक हालत में है और वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है, तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब झलक नहीं पाता। जिनके मन का दर्पण साफ नहीं है, वे मित्र को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, पति को पति के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में और पिता-पुत्र को, पिता-पुत्र के रूप में नहीं देख पाते। उनके मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब जब इतने धुँधले होते हैं, तो वे अपने कर्तव्य को भी साफ-साफ नहीं देख पाते और न अपनी भूलों को ही देख पाते हैं।

क्रोध : एक भयानक विघातक :

क्रोध में पागलपन ही नहीं, पागलपन से भी कुछ अधिक ही होता है। जिसे दुनिया पागल समझती है, वह पागलपन उतना भयानक नहीं होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्तर् में क्रोध की आग सुलगते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा में मनुष्य जो न कर बैठे, वह गनीमत है! वह आत्मघात भी कर लेता है, पर का घात भी कर देता है और ऐसे-ऐसे काम भी कर डालता है कि जिनके लिए उसे जिन्दगी भर पछताना पड़ता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

क्रोध पर ही क्रोध :

अतः हमें यह निर्णय कर लेना है कि क्रोध हमारे जीवन के लिए सब प्रकार से घातक है, उसको अपने मन में कतई स्थान नहीं देना है। जब क्रोध आने को हो, तो उसको बाहर के दरवाजे से ही धक्का देकर निकाल देना चाहिए। हाँ, यदि क्रोध करना ही है तो, हमें क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि—"यदि क्रोध करना है, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसको निकालने के लिए क्रोध पर ही क्रोध करो। क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।"

इस प्रकार जब क्रोध मन से निकल जाएगा, तो जीवन में स्नेह की धाराएँ स्वतः प्रवाहित होने लगेंगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जाएगा और बुद्धि निर्मल हो जाएगी।

शान्त मस्तिष्क ही निर्णय करने में समर्थ :

जब हम शान्त भाव में रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हममें सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। उसी समय हम ठीक विचार कर सकते है और दूसरों को भी ठीक बात समझा सकते है।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ़ गया, तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया, तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नहीं होगा। और कभी-कभी तो वह जीवन में बड़ा ही भयंकर साबित होता है। क्रोध के क्षणों में लिया गया निर्णय कभी भी शान्ति-दायक नहीं हो सकता। यदि हम अपने जीवन को शान्तिपूर्वक बिताना चाहते हैं, तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण कभी नहीं बन सकता।

क्रोध के शमन का मार्ग :

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर में आग लगती है, तो उसे बुझाने के लिए जिस प्रकार पानी का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार जब क्रोध आए तो उसे क्षमा एवं सहनशीलता के जल से बुझा दें। जब तक प्रतिपक्ष रूप विरोधी चीजें नहीं आएँगी, तब तक कुछ नहीं होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से कभी भी नहीं जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना कभी संभव नहीं। उसे काटने के लिए ठंडे लोहे का ही प्रयोग करना पड़ेगा। जब ठंडा लोहा गरम हो जाता है, तो उसकी अपने आपको बचाने की कड़क कम हो जाती है। वह ठंडा होने पर अधिक देर तक टिक सकता है, किन्तु गरम होकर तो वह अपनी शक्ति ही गँवा देता है। वह ठंडे लोहे से कटना शुरू हो जाता है। तो इस रूप में मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नहीं काट सकते, उसको ठंडे लोहे से ही काटना संभव होगा।

भगवान् महावीर ने कहा कि—"क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है।"[1] इसका मतलब यह हुआ कि जो चीजें प्रेम के सहारे टिकने वाली है, क्रोध उन सबका नाश कर डालता है। इस रूप में विचार कीजिए तो मालूम होगा कि परिवार, समाज और गुरु-शिष्य आदि का सम्बन्ध स्नेह के आधार पर ही टिका हुआ है। अगर वहाँ क्रोध उत्पन्न हो जाए, तो फिर कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नहीं, यह अनुभवगम्य सत्य है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती है, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का प्रेम-सम्बन्ध भी टूट जाता है। और, तब परिवार में रहता हुआ भी इन्सान अकेला रह जाता है। देश में करोड़ों लोगों के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही भटकता है।

लक्ष्मी का निवास-स्थान :

अतः यह विचार स्पष्ट है कि जीवन का आदर्श है प्रेम। भारतीय साहित्य में जिक्र आता है कि एकबार इन्द्र कहीं जा रहे थे। उन्हें लक्ष्मी रास्ते में बैठी दिखलाई दी। इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा—आजकल आप कहाँ विराजती हैं? लक्ष्मी ने कहा—आजकल का प्रश्न क्यों? मैं तो जहाँ रहती हूँ, वहीं सदा रहती हूँ। मैं ऐसी भगोड़ी नहीं कि कभी कहीं और कभी कहीं रहूँ! और, हमेशा रहने की अपनी तो एक ही जगह है—

"इन्द्र मैं वहाँ रहती हूँ, जहाँ प्रेम का अखण्ड राज्य है, जिस परिवार, समाज एवं राष्ट्र में आपस में कलह नहीं है। मैं उन लोगों के पास रहती हूँ, जो परस्पर प्रेम-पूर्वक मिल-जुलकर

---

१. 'कोहो पीइं पणासेइ।'—दशवैकालिक, ८/३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम करते हैं। एक-दूसरे के सहयोगी बनकर जहाँ लोग अपनी जीवन-यात्रा करते हैं। जहाँ आपस में संगठन है, जो एक-दूसरे के हित के लिए अपने स्वार्थ को निछावर कर देने को और अपनी इच्छाओं को कुचलने के लिए तैयार रहते हैं। जहाँ प्रेम-स्नेह की जीवन-दायिनी धाराएँ निरन्तर बहती रहती है, जहाँ कलह, घृणा, द्वेष नहीं होता, मैं वहीं निवास करती हूँ।"[1]

लक्ष्मी के इस कथन ने अनन्त-अनन्त काल के प्रश्न हल कर दिए। बड़ी सुन्दर बात कही है। यह तो संसार के लिए एक महान् आदर्श वाक्य है। वास्तव में लक्ष्मी ने अपनी ठीक जगह बतला दी है। बड़े-बड़े परिवारों को देखा है, जहाँ पर लक्ष्मी के ठाठ लगे रहते हैं। किन्तु, जब उन परिवारों मन-मुटाव हुआ, क्रोध की आग जलने लगी, वैर-भाव पैदा हुआ, तो वह वैभव और आनन्द नहीं रह पाया। धीरे-धीरे ऐश्वर्य क्षीण होने लगा और लक्ष्मी रूठ कर चल दी वहाँ से।

जो बात क्रोध के सम्बन्ध में है, वही मान के सम्बन्ध में है। अभिमानी व्यक्ति किसी का कुछ भी नहीं रहता। वह कण भर कोई काम करता है, तो मण भर उसका अहंकार रखता है। वह समझता है, मेरे बराबर कोई है ही नहीं। वह सब पर अपना रौब गांठता है। किसी को कुछ नहीं समझता। गुणीजनों के प्रति आदर-भाव, प्रमोद-भाव, तो उसके उद्दण्ड मन में कभी उद्‌भूत होता ही नहीं। वह अपनी ही प्रशंसा का भूखा रहता है। दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते समय, तो उसकी स्व-प्रशंसा मुखर चपल जिह्वा को लकवा मार जाता है। अतः मान पर विजय आवश्यक है और वह विनय, विनम्रता एवं मधुरता से साध्य है।

अन्तिम दो कषाय हैं—माया और लोभ। माया, छल-कपट एक तरह से जीवन का कैंसर है। वह अन्दर-ही-अन्दर जीवन को विषाक्त बनाता रहता है। दंभी व्यक्ति का कोई मित्र नहीं रह सकता। मायावी व्यक्ति की जिह्वा पर अमृत रहता है, किन्तु मन में हलाहल विष भरा रहता है। अतः मैत्री की साधना के लिए माया का परिहार आवश्यक है और यह सहज सरलता के निर्मल भाव से हो सकता है।

लोभ-कषाय सब से भयंकर है। श्रमण भगवान् महावीर ने लोभ को सर्व विनाशी बताया है।[2] जहाँ लोभ है, वहाँ परिवार, समाज, और राष्ट्र सेवा एवं हित की भावना कहाँ रह सकती है? धर्म का तो उसमें अंश मात्र नहीं रहता। धर्म, निर्लोभता में, वीतरागता में रहता है। साधना का प्राण अनासक्ति है, निष्कामता है। अतः साधक के लिए लोभ-विजय आवश्यक है और वह हो सकता है, एकमात्र संतोष से।

उक्त विजय-यात्रा के लिए अपेक्षित है, निरन्तर स्वाध्याय, चिन्तन और मनन। विकृतियों में दोष-दर्शन और सुकृतियों में गुण-दर्शन, अन्तर्जीवन की पवित्रता के लिए मंगल मन्त्र हैं।

---

१. गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसंस्कृता।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहम्॥

२. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो।—दशवैकालिक सूत्र, ८, ३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org